SUṢAMĀ : Multidisciplinary Research Journal ISSN: 3107-4529
(International Peer-Reviewed & Refereed Journal)
Vol. 1, Special Issue, (December) 2025

वेदसम्मत देवतास्वरूप का पर्यालोचन

Dr. Shreenarayana Pathak
Assistant Professor
Shahid Hira Singh Government Post Graduate College
Dhanapur, Chandauli, UP, India
Email: shreenarayanpathak790@gmail.com

Abstract: इस संसार में स्वाभिलषित मनोरथ और पुरुषार्थ को प्राप्त करने की वाञ्छा रखने वाले मानव का दैव और पुरुषकार (कर्म) ये दो परम साधन माने गये हैं। दण्डचक्रचीवरन्याय से दैव और पुरुषकार इन दोनों को परस्पर संमिलित साधन माना जाये अथवा तृणारणिमणिन्याय से पृथक् साधन माना जाये? इसके अतिरिक्त देवता का प्राबल्य है या पुरुषकार का, यह विचार चिरन्तनकाल से संशय का केन्द्रबिन्दु रहा है? याग, दान, होम पूजादि वेदविहित कर्मों से आराधित इन्द्रादिदेवता प्रसन्नचित्त होकर तत्तद् कर्म करने वाले को योग्यतानुसार फल देते हैं? अथवा देवता से निरपेक्ष तत्तद् कर्म ही स्वजन्य अपूर्वद्वारा कर्ता को फलोपयोग्य बनाते है? इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है? वैदिकयाग के दो विशेषपदार्थ बतलाये गये हैं— "यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं देवता च।" इन दोनों पदार्थों के मध्य देवता का वैदिक यथार्थस्वरूप क्या है? श्रीशबरस्वामी ने देवता स्वरूप के विमर्शावसर पर कहा है कि 'का पुनरियं देवतानाम' यहाँ से आरम्भ करके 'एकं तावन्मतम्' 'अपरं मतम्' इत्यादि वाक्यों द्वारा मतद्वय को पूर्वपक्षरूप से रखकर पुनः उसमें अपनी अरुचि देते हुये अनेक पक्ष-पक्षान्तरों का अवतरण किया है। प्रस्तुत शोध-पत्र में शोधार्थी द्वारा इन सभी प्रश्नों का यथासम्भव समाधान करते हुये वैदिक देवताविषयस्वरूप का विहङ्गमदृष्टि से पर्यालोचन किया जायेगा।

Keywords: देवता, विग्रह, कर्म, पुरुषकार, दैव, श्रुति, प्रमाण, ऐहिक, आमुष्मिक, उपसर्जन।

संसार में स्वाभिलषित मनोरथ और पुरुषार्थ इन दोनों के प्राप्ति की वाञ्छा रखने वाले मानव का दैव और पुरुषकार (कर्म) ये दो परम साधन माने गये हैं। इसी अभिप्राय से घण्टा माघ ने भी 'नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे। शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते'' ऐसा कहा है। किन्तु प्रश्न यह है कि दण्डचक्रचीवरन्याय से दैव और पुरुषकार इन दोनों को मानव का परस्पर संमिलित साधन माना जाये अथवा तृणारणिमणिन्याय से पृथक् पृथक् साधन माना जाये? इसके अतिरिक्त उपर्युक्त साधनों के विमर्शावसर पर ही मानव जीवन में क्या देवता का प्राबल्य है या पुरुषकार का, इस प्रकार का संशय भी उत्थित होता रहा है। इस स्थिति में यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'पक्षान्तरैरपि परिहाराः भवन्ति' इस 'ऋलृक्' सूत्रस्थ भाष्यरीति से 'अभेदका गुणाः'— 'भेदका गुणाः' पक्षद्वय से शास्त्र-प्रक्रियानिर्वाहार्थ स्वेच्छा से किसी एक पक्षावलम्बन की भाँति प्रकृत में भी दैव या पुरुषकार से किसी एक मात्र का स्वेच्छा से प्रामाण्य अङ्गीकार करने से प्रश्न का सुलभता से उच्छेद हो सकता है, इसका कारण यह है कि दर्शन, पुराण, इतिहासादि के प्रवर्तक महर्षि लोगों ने इन दोनों का प्रामाण्य स्वीकार किया है। इस प्रकार इन दोनों के प्रामाण्य के कारण प्राधान्यतः चार पक्षों की संभावना बनती है— १. दैव को मानकर उसके ऊपर सारा भार रखता हुआ पुरुषकार को उसका अङ्ग कहना। २. पुरुषकार को प्रधान बतलाकर उसके अङ्ग रूप से दैव को स्वीकार करना। ३. दैव का परित्याग करते हुये पुरुषकार मात्र को मानना। ४. पुरुषकार को तुच्छ मानकर दैव मात्र को प्रधान कारण कहना।

यहाँ ''अथो खल्वाहु काममय एवायं पुरुषः, स यथाकामो भवति तथा क्रतुर्भवति, यथा क्रतुर्भवति तथा तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते'। (बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.५.६)

करोतु नामनीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः।

फलं पुनस्तदेववास्य यद्विधेर्मनसि स्थितः।। (हितोपदेश सुहृद्भेद, श्लो० सं०१४)

न दैवमिति सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।

अनुद्यमेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमिच्छति।। (हितोपदेश प्रस्ताविका, श्लो० सं०३०)

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः। न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः (हितोपदेश, प्रस्ताविका, श्लो०३६)

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजसमुदाहृतम्। क्षेत्रं बीजसमायोगात् ततः सस्यं समृद्यते।

अर्थात् क्षेत्र के स्थिर रहने पर भी जिस प्रकार बिना बीज के सस्य का प्रसव नहीं होता है उसी प्रकार बीजस्थानिक दैव के बिना क्षेत्रभूत पुरुषकार फलशून्य ही है। (महाभारत, अनुशासन पर्व ६।८।)

विहाय पौरुषं यो हि दैवमेवावलम्बते।

प्रासादसिंहवत्तस्य मूर्ध्नि तिष्ठति वायसाः।। (यशस्तिलकचम्पू ३।५१।)

इत्यादि श्रुति, काव्य, पुराणादि के वाक्यों के अध्ययन से प्रकृतभूत पक्षचतुष्टय का प्रामाण्य ज्ञात होता है। इस स्थिति में यद्यपि प्रामाण्यविषयक विनिगमक सामान्य के आधार पर इनमें क्या पक्ष श्रेष्ठ है, यह निर्णय सुलभ नहीं है, तथापि मीमांसक सरणि का अनुसरण करके मीमांसक सम्मत देवतास्वरूप के याथार्थ्य का विवेचन पुरस्सर प्रकृत संशय विषयक धारण का उन्मूलन करने के लिये आगे कहते हैं।

विध्यादि पञ्चाङ्गविषयक वेद ऐहिक, आमुष्मिक एवं ऐहिक संवलित आमुष्मिकादि फल को सुख से प्राप्त करके उपभोग योग्य करने के उद्देश्य से उन-उन वर्णाश्रम के अनुसार क्लेशसुलभ साध्य अनेक कर्मों का विधान करती है तथा इन कर्मों के अनुष्ठाता ही अनुष्ठेय कर्मों की पूर्ति करके स्व-स्व अभिलषित फलोपभोगयोग्य हुआ करते हैं।

किन्तु प्रश्न यह होता है कि वास्तव में फलोपभोग योग्यता (प्राप्ति) अनुष्ठाता को कैसे प्राप्त होती है? क्या वेद विहित याग, दान, होम, पूजादि कर्मों से आराधित इन्द्रादि देवता ही प्रसन्न होकर उन-उन कर्मों को करने वाले कर्ता को योग्यतानुरूप फल देते हैं अथवा देवताप्रसाद से निरपेक्ष कर्म ही अपूर्व द्वारा फल को देते हैं। प्रथम पक्ष की मान्यता रखने पर यह मानना होगा कि देवताराधन द्वारा कर्म में देवताप्रसादजनकत्व रहने से उन अनुष्ठित कर्मों से प्रसन्नचित्त देवता ही फल वितरण करते हैं। अतः दैव का प्राधान्य है और पुरुषकार उपसर्जन है। द्वितीय पक्ष की मान्यता रखने पर चूँकि अनन्यपरतन्त्र कर्म ही फल वितरण करता है, अतः पुरुषकार की ही प्रधानता आयी और देवताओं का उपसर्जनत्व। इस प्रकार पक्षद्वयों में क्या मानना उचित है, यह अवान्तर संशय है?

शास्त्रज्ञ कहते हैं कि जैसे गृहस्थ लोग घर आये अतिथि को पाद्य, अर्घ्य, आचमन, भोजनादि प्रदान करके उसे तृप्त करते हुये पुनः उनसे आशीर्वाद प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार वेदविहित यागादि क्रिया भी तृप्ति द्वारा देवताप्रसाद प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों का साधन है। इसलिये 'यज देवपूजा-सङ्गतिकरणदानेषु' यह याग की देवतापूजात्मक अवद्योतिका अभियुक्ति सङ्गत होती है। पूजा पूजनीय की अपेक्षा उपसर्जन भूत ही है, इस बात से सभी सहमत है। इस दशा में पूजास्थानापन्न यागादि कर्म पूजनीय देवता की अपेक्षा उपसर्जन सिद्ध होता है।

याग में तीन पदार्थ है— १. द्रव्य, देवता, ३.त्याग। इनमें त्यज्यमान हवि का उद्देश्य देवता होता है और हवि दान से देवता का सम्प्रदानत्व सिद्ध होता है। 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' इस शास्त्र से कर्म कारक द्वारा अभिप्रेयमाण रहने से सम्प्रदान का प्राधान्य मानना चाहिये। सम्प्रदान का प्राधान्य मानने का कारण यह है कि पूजा पूजनीय की प्रीति का उत्पादक है और यह गुरु आदि लौकिक स्थलों में देखी जाती है। इसलिये पूजारूप याग का देवतार्थ आश्रयण करने में लौकिकी रीति भी अनुसृत होती है। अर्थात् देवता सम्प्रदानभूत है और उसके प्रसादजनकत्व रूप से यागादि क्रिया के स्वरूपानुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार 'ते देवा हविरदन्तु', देवान् यजते यस्स देवानां भोगाय भवति', तृप्त एव एनमिन्द्रः प्रजया पशुभिश्च तर्पयति', 'आहुतिभिर्वै देवान् प्रीणयामि', इत्यादि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहासादि यह अनुसृत है। तदनुसार याग का देवता प्रसादजनकत्व और तत्प्रसाद का फलजनकत्व मानना चाहिये। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि देवताप्रसाद विग्रहभोगादि के बिना अनुपपन्न है। देवता प्रसाद का विग्रहादि पञ्चक निम्नप्रकार से है—

विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यञ्च प्रसन्नता।
फलदातृत्वमित्येते पञ्चकं विग्रहादिकम्।।
'ऋष्वा त इन्द्रस्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता'
'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।
अष्टाभिर्दशभिस्सोमपेयमयं सुतस्सुमुख मा मृधस्कः'
तुभ्यं सुतो मघवन् तुभ्यं पक्वोऽद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य'
आ श्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्'

इत्यादि मन्त्रों के पर्यालोच्यमान अर्थ से इन्द्रादि देवताओं का विग्रहवत्त्व, हविर्भोक्तृत्व, पुरुषविधत्व आदि स्वरूप की सिद्धि होती है। तथा च पूजास्थानिक याग से आराधित चेतन देवता यागीय हविः प्राप्त करते हैं और पुनः उससे तृप्त होकर यजमान के लिये फल वितरण करते हैं। इस उपर्युक्त कारणों से प्रधानीभूत देवताप्रसाद ही फलप्रयोजक होने से अश्रुत अपूर्व कल्पना द्वारा गुणभूत याग के फलजनकत्व की कल्पना अनुचित है। इसलिये दैव की अपेक्षा पुरुषकार का उपसर्जनत्व सिद्ध होता है।

न्यायविद् उपर्युक्त तथ्य से अपना वैमत्य प्रकट करते हुये कहते हैं कि 'यजेत स्वर्गकामः' यह अधिकारवाक्य याग का स्वर्गफलक कथन करता है और वह याग 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति' इस उत्पत्तिवाक्य से विहित है। इस उत्पत्तिवाक्य में अग्निदेवताक पुरोडाश इत्यर्थक 'आग्नेयः' इस तद्धित पद से पुरोडाश की अपेक्षा अग्निदेवता के गुणत्व का बोध होता है। द्रव्य-देवतासम्बन्ध से कल्प्यमाण याग तदनुगुण ही कल्पित होता है एतदर्थ 'अग्निदेवताकाष्टाकपालपुरोडाश द्रव्यको यागः' यह याग का स्वरूप बनता है। त्यागांश के प्रति गुणभूत देवता वाले इस याग का ही याजी के द्वारा अधिकार वाक्य में परामर्श किया जाता है। क्योंकि उत्पत्तिवाक्यगत गुणभाव के विरोध से यहाँ त्यागांश के प्रति देवता का गुणभूत रहना ही उचित है, उसका प्राधान्य नहीं। अर्थात् अधिकार वाक्य में देवता का प्राधान्य मानने पर उत्पत्तिवाक्य में देवता का त्यागांश के प्रति गुणभाव और अधिकारवाक्य में त्यागात्मक याग का देवता के प्रति गुणभाव रूप वैषम्यता रहने से विरोध आता है। अतः जिस रीति से उत्पत्तिवाक्य में देवता का बोध होता है, उसी प्रकार सर्वत्र विरोधाभाव के लिये देवता का ज्ञान स्वीकार करना उचित है। इस प्रकार दैव की अपेक्षा पुरुषकार का प्राधान्य सिद्ध होता है।

उत्पत्तिवाक्य विहित कर्म में ही गुण विधान के लिये गुणवाक्य और फलसम्बन्ध ज्ञान के लिये अधिकारवाक्य प्रवृत्त होते हैं। वहाँ भी 'अस्मिन् कर्मणीयं देवता' यह ज्ञान विधि के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता, अन्य द्वारा नहीं। इसलिये भट्टकुमारिल ने कहा है कि—

विधिनैव हि देवत्वं प्रतिकर्मावधार्यते।
न जात्या देवतात्वं हि क्वचिदस्ति व्यवस्थितम्।।

'विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावस्स्यात् तेन चोदना' (जै० सू० १०।४।२३।) इस दशमाध्यायस्थ अधिकरण में भाष्यवार्तिककारादि के द्वारा इस विषय का वर्णन विशद रूप से किया गया है। कुतूहलवृत्तिकार वासुदेव दीक्षितजी ने इस सूत्र का अर्थ निम्नप्रकार से किया है— मन्त्रग्रहणम् त्यागवाक्यस्याप्युपलक्षणम्। त्वप्रत्ययस्तु स्वार्थिक: अद्येत्यर्थे 'अद्यत्व' इति महाभाष्ये प्रयोगदर्शनात्। मन्त्रत्वे=आवाहनादिनिगदे त्यागवाक्ये च, विधिशब्दस्य= विधिगताग्न्यादिशब्दस्य, भाव:· उच्चारणनियमस्स्यात्। यत: आग्नेयादिवाक्ये तेन=अग्न्यादिशब्देन यागस्य चोदना=विधि:। अग्न्यादिशब्दकरणकयागविधिरिति यावत्। वहाँ का विषय अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्तिकार की दिशा से निम्नप्रकार से अवधेय है —

'अग्निमग्न आवह' यह दर्शपूर्णमासों का आवाहनमन्त्र है। 'स्वाहाग्निम्' यह स्वाहाकार मन्त्र है। 'अग्निरिदं हविरजुषत' इत्यादि सूक्तवाक् मन्त्र है। 'अग्नेरहं देवयज्यया' यह हुतानुमन्त्रणादि मन्त्र है। 'अग्नय इदं न मम' यह त्यागवाक्य है। इन स्थलों पर 'अग्नि: शुचि: पावक:, इन्द्रो वङ्क्री पुरन्दर:' इत्यादि पर्याय में किसी भी शब्द से अग्न्यादि देवता का निर्देश करना चाहिये अथवा 'आग्नेयोष्टाकपाल:' इत्यादि विधिगत देवताशब्द का ही निगद और त्यागादि में प्रयोग करना चाहिये? इस प्रकार का सन्देह करके पूर्वपक्ष किया जाता है कि यदि कर्म में देवता केवल शब्द ही है तो विधिगत शब्द का ही मन्त्रादि वाक्य में प्रयोग नियम है।

वहाँ प्रश्न होता है कि क्या शब्द के देवता रहने पर वहाँ शब्द का अर्थ रहता है या नहीं? यदि शब्द का अर्थ नहीं माने तो लोक और वेद में अग्न्यादि शब्दों के अर्थपरत्व प्रसिद्धि का निरादर होगा। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह आयेगा कि अर्थपरत्वाभाव में 'अर्थवदधातुरप्रत्यय: प्रातिपदिकम्' इससे प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के अभाव में विभक्ति की अनुपपत्ति होगी। एवं 'अग्नय इदं न मम' इत्यादि तादर्थ्यचतुर्थी की अनुपपत्ति होगी। हवि: के प्रति स्वामित्वलक्षण शेषित्वात्मक ही तादर्थ्य कहलाता है।

दूसरी तरफ यदि शब्द का अर्थ मानते हैं तब अर्थ का ही देवतात्व सम्भव रहने पर निगमादि में अग्न्यादि पद नियम के प्रमाण का अभाव है। यद्यपि त्यज्यमान द्रव्योद्देश्यत्वरूप देवतात्व अर्थ में सम्भव नहीं है, क्योंकि द्रव्यत्यागकालीन उच्चारणकर्मत्वरूप देवतात्व शब्दधर्म होता है, तथापि द्रव्योद्देश्यत्व के उच्चारणकर्मत्वरूप शब्दसम्बन्ध में प्रमाणाभाव रहने से द्रव्यत्यागकालीन ज्ञानकर्मत्वरूप देवतात्व अर्थ में भी उपपन्न रहने से दोषाभाव है। इसलिये देवता शब्द के अर्थसद्भाव को मानते हुये यदि शब्द का देवतात्व वाञ्छित है, तो अर्थ का ही प्राधान्य और देवतात्व ये दोनों मानना चाहिये। इसी अभिप्राय से आचार्य भट्टकुमारिल तन्त्रवार्तिक में लिखते हैं कि ''शब्दोऽर्थं प्रति अत्यन्तगुणभूत:। अर्थ एव कार्योपयोगी, प्रधानत्वात्। अग्निशब्दो न स्वयं कार्येण द्रव्येण सह सम्बध्यते। किं तर्हि? अर्थेन सम्बध्यते। अर्थपरत्वाच्च निर्देशस्य पर्यायशब्दानामनिवृत्ति:.....तस्माद् अग्निशब्दो न शक्यो नियन्तुम्''। इस प्रकार अर्थ का ही देवतात्व रहने से निगमों में कहीं भी विधिगतशब्दनियम नहीं है। यहाँ तक पूर्वपक्ष है।

सिद्धान्तपक्ष कहते हैं कि उच्चारण के बिना केवल ज्ञानमात्र से अर्थ का देवतात्व युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि ज्ञाननिमित्तक अर्थ के देवतापक्ष में 'अग्नये पावकाय', 'अग्नये शुचये' इत्यादि पवमान इष्टि विधायक वाक्य में एक पद से भी अर्थ का विधान सम्भव होने पर पदद्वय की वैयर्थ्यापत्ति होगी। यद्यपि यहाँ पुराणादि पर्यालोचन से पावक पद अग्निविशेष का वाची ज्ञात होता है, तथापि पावकपद से अग्नित्व समानाधिकरण विशेषधर्म की उपस्थिति होने से अग्निपद का वैयर्थ्य है। अत: देवतोद्देश्यक द्रव्यत्यागकाल में शब्दोच्चारण अवश्य करना चाहिये, यह शिष्टाचार है। इस प्रकार केवल अर्थ के देवतात्व पक्ष में देवतास्वरूप 'द्रव्यत्यागकालीन उच्चारणकर्मीभूत शब्द प्रतिपाद्यत्व' यह होता है और 'अग्नये पावकाय' इत्यादि में एक पद से भी अर्थ का विधान सम्भव रहने पर पदद्वय वैयर्थ्यापत्ति होने से अर्थ का देवतात्व दुष्ट है।

इस प्रकार 'त्यज्यमान द्रव्योद्देश्यत्वं देवतात्वम्' यहाँ उद्देश्यत्व मात्र देवतात्व मानने पर प्रतिनिधीयमान का भी देवतात्व सम्भव होने से 'न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थत्वात्' (जै० सू०६।३।१८।) इस षष्ठोक्त देवता प्रतिनिधि अभाव के अनुपपत्ति का प्रसङ्ग होगा। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह तथ्य निर्गत होता है कि वस्तुतस्तु हविस्त्याग के समनियतकाल वाला शब्दोच्चारण कर्मत्व ही देवता है। इसके अतिरिक्त हवि: त्यागकालीन ज्ञानकर्मत्व या हवि: त्याग के समानकाल वाला उच्चारणकर्मीभूत शब्दप्रतिप्राद्यत्व रूप का तिरस्कार समझना चाहिये। हवि: यागकालीन शब्दोच्चारण कर्मत्व रूप देवता ही 'आग्नेय:' यह तद्धितार्थ है। अर्थ की आनुषङ्गिक रूप से प्रतीति होने से उसका शब्दप्रतिपाद्यत्व रूप भाक्त देवतात्व है। इसलिये इस भाक्त देवतात्व का शास्त्र से विधान नहीं होता है।

इसी अभिप्राय से शाबरभाष्य के दशमाध्याय के चतुर्थ पाद में आचार्य शबरस्वामी ने देवता के विषय में तीन पक्ष बतलाये हुये कहा है कि १. अर्थो देवता, २. शब्दविशिष्टोऽर्थो देवता, ३. शब्दो देवता। इनमें 'शब्दो देवता' यह अन्तिम पक्ष ही सिद्धान्त है। क्योंकि अर्थ का स्मरण शब्द के द्वारा हुआ करता है, इसलिये शब्द की ही प्रथम उपस्थिति होती है। अत: शब्द ही देवता है, अर्थात् 'इन्द्राय स्वाहा' यहाँ इन्द्राय यह चतुर्थ्यन्त पद ही देवता है। अर्थ को देवता मानने वाले भी शब्द की उपेक्षा नहीं नहीं कर सकते। अत: तीनों पक्षों में शब्द मुख्य होने के कारण मीमांसकों ने शब्द को ही देवता माना है। यह नियम है कि विधिवाक्य में जो देवतावाचक शब्द हो उसी का आवाहन, त्याग और सूक्तवाक् आदि में प्रयोग करना चाहिये, न कि उसके पर्याय शब्द का। जैसे- 'आग्नेयमष्टाकपालम्' आदि में अग्नि के पर्यायवाची 'जातवेदस्' का प्रयोग नहीं करना चाहिये। इन बातों से 'शब्दमयी देवता' इस मीमांसक-सिद्धान्त का समर्थन होता है।

अग्नि आदि देवताओं का विग्रहादिपंचक माना जाता है यह पूर्व में कहा जा चुका है। इसी के आधार पर वेदान्तियों ने देवता को विग्रहादि-पंचक माना है, अर्थात् हम लोगों के समान कर-चरणादि अवयव देवताओं के भी होते हैं। वे हवि का स्वीकार और उसका भक्षण कर प्रसन्न होते हैं और यजमान को फल देते हैं। अत: देवता विग्रहादिमती है। इसमें भूतार्थवाद प्रमाण होते हैं। महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त में 'अथ आकारचिन्तनम्' इत्यादि से पुरुषविधता को सिद्ध करते हुये ऐसा ही विचार किया है।

वहाँ यास्क ने कहा है कि 'पुरुषविधा: स्यु:' अर्थात् देवता का आकार पुरुषप्रकार अर्थात् मनुष्य की आकृति के समान होता है। इसमें उन्होंने हेतु देते हुये कहा कि 'चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति' अर्थात् देवताओं की स्तुतियाँ चेतना वालों की तरह होती है। इसलिये पुरुषाकारविग्रह देवताओं का सिद्ध होता

है। इसके अतिरिक्त पुरुषाकार की पुष्टि के लिये हेत्वन्तर देते हैं कि 'पौरुषविधिकैरङ्गै: संस्तूयते' अर्थात् देवताओं की स्तुति मनुष्य के अङ्गों जैसी की गई है। 'ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू' (ऋ०६।४७।८।) इस मन्त्र में इन्द्र के बाहू की प्रशंसा की गई है। इन्द्र= हे इन्द्र, स्थविरस्य= बूढे, ते =तेरी, ऋष्वा=शत्रुओं के विनाशक, बाहू= भुजाओं के शरण में आते हैं। इसी प्रकार यास्क ने 'पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगै:', 'पौरुषविधिकै: कर्मभि:' इत्यादि हेतुओं से भी देवताओं का पुरुषविधत्व सिद्ध किया है।

ध्यातव्य है कि वैदिक देवतातत्त्व के प्राधान्यरूप से प्रतिपादन करने वाले दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं— १. आचार्य यास्क का निरुक्त। २. आचार्य शौनक प्रणीत बृहद्देवता ग्रन्थ। शौनक के अनुसार वेद का प्रत्येक मन्त्र किसी न किसी देवता को उद्देश्य करके ही प्रयुक्त हुआ है। अत: वेद के वास्तविक ज्ञान के लिये देवता का ज्ञान आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मन्त्रों से सम्बन्धित देवताओं के यथार्थज्ञान के बिना लौकिक अथवा वैदिक संस्कारों का फल प्राप्त नहीं होता है और देवताओं के परिज्ञान द्वारा उत्पन्न कर्म ही सर्वथा सफल होता है। ये बातें बृहद्देवता में निम्नप्रकार से कही गयी है—

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नत:।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति।।२।।
न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम्।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते।।४।।
देवताया: परिज्ञानात् तद्धि कर्म समृध्यते।।२१।।

मीमांसादर्शन कहता है कि 'शब्दमयी देवता' इस सिद्धान्त का समर्थन करने के लिये शबरस्वामी ने देवताधिकरण भाष्य में देवता के विग्रह का खण्डन किया है— 'अपि वा यज्ञकर्मप्रधानं स्यात्'। आगे चलकर सभी आचार्यों ने अर्थात् पार्थसारथी, खण्डदेव आदि मीमांसकों ने इसी मार्ग का अनुगमन किया है। आचार्य कुमारिल अपनी टुप्टीका में कहते हैं कि देवता प्रधान न होकर द्रव्य की तरह अंग है और कर्म ही प्रधान है। कर्म ही फल देता है, देवता नहीं। 'न हि स्वामिनि स्थिते दासात् कश्चित् फलं प्रार्थयते'। किन्तु 'कर्मण एव फलजनकत्वम्' 'शब्दमयी देवता' इन दोनों सिद्धान्तों का समर्थन देवताविग्रहादि को मानकर भी किया जा सकता है। इसलिये भाष्यकार का देवताविग्रहादि निराकरण प्रौढिवाद समझना चाहिये। मीमांसादर्शन 'शब्दमयी देवता' को मानता है और उसका ज्ञान तद्धित, चतुर्थी विभक्ति तथा मंत्रवर्ण इन तीनों से होता है। उसमें अन्तर यह है कि 'तद्धित' शक्तिवृत्ति से देवता का बोधन करता है, 'चतुर्थी विभक्ति' लक्षणा से और 'मन्त्रवर्ण' अधिष्ठान मात्र का बोधन कराता है।

Bibliography

- सूरि, सोमदेव (लेखक), शास्त्री, पं० सुन्दरलाल (सम्पादक), १९७१ ई०, यशस्तिलकचम्पू महाकाव्यम्, पृ०२२१, आनन्द प्रेस, गौरीगञ्ज, वाराणसी, भारत।
- आपदेव (लेखक), पं० शास्त्री, पट्टाभिराम (सम्पादक), २००९ ई०, मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० ५६, श्रीलालबहादुरशास्त्रिराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम, नई दिल्ली, भारत।
- पण्डित, नारायण (लेखक), राम, आचार्य श्रीनारायण (सम्पादक) २००८ ई०, हितोपदेश, श्लो० सं० १४-३०-३६, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, भारत।
- बृहदारण्यकोपनिषद्, २०५८ वि सं०, पृ०१०४१ , गीताप्रेस, गोरखपुर, भारत।
- महर्षि, वेदव्यास (लेखक), शास्त्री-पाण्डेय, रामनारायणदत्त, अनुवादक, २०७२ वि० सं०, महाभारत, अनुशासन पर्व ६।८।, गीताप्रेस, गोरखपुर, भारत।

- भट्ट, कुमारिल (लेखक), सुब्वाशास्त्री (सम्पादक), १९३० ई०, तन्त्रवार्तिक, पृ०२३७, आनन्दाश्रम मुद्राणालय, पुणे, भारत।
- दीक्षित, वासुदेव (लेखक), शास्त्री, पट्टाभिराम (सम्पादक), १९७२ ई०, अध्वरमीमांसा-कुतूहलवृत्ति, पृ०१३८८-१३८९, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, नई दिल्ली, भारत।
- शौनक (लेखक), राय, रामकुमार (सम्पादक व अनुवादक), १९८८ ई०, बृहद्देवता, पृ०३ व ७, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी, भारत।
- उपाध्याय, गङ्गाप्रसाद (अनुवादक) १९६७ ई०, शतपथब्राह्मण, प्राचीनवैज्ञानिकाध्ययन अनुसन्धान-संस्थानम्, नई दिल्ली, भारत।
- सातवलेकर, श्रीपाद (सम्पादक-अनुवादक), १९८५ ई०, ऋग्वेद, ६।४७।८।-२।१८।४-१०।११६।७, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, गुजरात, भारत।
- यास्क (लेखक), शास्त्री, भगीरथ (अनुवादक), २०१९ ई०, निरुक्त, पृ०३४०-३४२, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, भारत।
- स्वामी, आचार्य शबर (लेखक), अभ्यंकर, वासुदेव शास्त्री व जोशी, गणेशशास्त्री (सम्पादक), १९७४ ई०, मीमांसादर्शन-शाबरभाष्यम्, अ०१०।पा०४।सू०२३। पृ०३७०, आनन्दाश्रम मुद्राणालय, पुणे, भारत।
- भट्ट, कुमारिल (लेखक), शास्त्री, द्वारिकादास (सम्पादक), १९७८ ई०, श्लोकवार्तिक, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी भारत।
- जैमिनि (लेखक), शास्त्री, उदयवीर (अनुवादक), २०१५ ई०, मीमांसादर्शन, पृ०८३५, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, भारत।
- मिश्र, पार्थसारथी (लेखक), मुसलगाँवकर, गजाननशास्त्री (अनुवादक), २०२४ ई०, शास्त्रदीपिका, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, भारत।
- खण्डदेव (लेखक), शास्त्री, सुब्रह्मण्य (सम्पादक), १९७० ई०, भाट्टतन्त्ररहस्य, संस्कृत महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, भारत।
- भट्ट, कुमारिल (लेखक), अभ्यंकर, वासुदेव शास्त्री व जोशी, गणेशशास्त्री (सम्पादक), १९७४ ई०, मीमांसादर्शन-शाबरभाष्यम्-टुप्टीका, अ०१०।पा०४।सू०२३। पृ०३७०, आनन्दाश्रम मुद्राणालय, पुणे, भारत।
- पतञ्जलि (लेखक), शास्त्री, गुरुप्रसाद (सम्पादक), २००१ ई०, व्याकरण-महाभाष्य, पृ०१०३, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, भारत।
- पाणिनि (लेखक), दीक्षित, पुष्पा (सम्पादक), २००९, अष्टाध्यायी, ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर, दिल्ली, भारत।
- माघ (लेखक), त्रिपाठी, रामप्रतापशास्त्री (अनुवादक), १९८३ ई०, शिशुपालवधम्, सर्ग०२, पृ०५१, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, भारत।
- सोमण:, नागेश्वरशास्त्री (अनुवादक), २००९ ई०, श्रौतपदार्थनिर्वचन, पृ०३८, रामलाल कपूर ट्रस्ट, हरियाणा।

———